

## पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- आत्माको प्राप्त करनेमें कैसी उग्रता चाहिये ?

समाधान :- स्वरूप ग्रहण की ऐसी उग्रता चाहिये कि कहीं चैन न पड़े। विकल्पोंके जालमें भी चैन न पड़े, कहीं सुख न लगे-इतनी उग्रता अंतरमें होनी चाहिये। मुझे इन भावोंमें बड़ा आनन्द आता है, बहुत रस पड़ता है, ऐसा लगे वह सब विकल्प ही है, विकल्पोंका ही आनन्द है। आनन्द तो चैतन्यद्रव्यके अस्तित्वमें से आना चाहिये, वह सहज आनन्द है। जहाँ सब विकल्प छूट जाते हैं वहाँ सहज आनन्द प्रगट होता है; जो अंतरमें से भिन्न हो जाता है, उसीको सहज आनन्द आता है, वहाँ कोई कृत्रिमता नहीं होती कि मुझे बड़ा आनन्द आया, तथा उसकी आनंदपर भी दृष्टि नहीं होती।

जो अपने अस्तित्व को ग्रहण करता है उसे अंतरमें से सहज आनन्द प्रगट होता है; विकल्प करके आनन्दका वेदन नहीं करना पड़ता। विकल्पोंकी दिशा है वह सारी दिशा पलटकर विकल्पोंसे छूटे तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

पहले ऐसा भेदज्ञान प्रतिक्षण होना चाहिये कि मैं विकल्पों से भिन्न हूँ। पहले ज्ञायककी धारा हो, तब निर्विकल्पदशा आती है। (स्वानुभूतिदर्शन-३४३)



प्रश्न :- द्रव्य-कर्म, भावकर्म और नोकर्म-इन तीनोंसे एक साथ भिन्न होता है ?

समाधान :- अंतर में जहाँ विभाव के साथ एकत्वबुद्धि है वहाँ समस्त परपदार्थोंके साथ भी एकत्वबुद्धि है। ऐसा स्थूलरूपसे सबके साथ एकत्व नहीं मानता, परन्तु एक भी परपदार्थ या विभावके साथ जिसे एकत्वबुद्धि है उसे सबके साथ एकत्वबुद्धि है ही, वह भिन्न नहीं हुआ है। द्रव्यकर्मके निमित्तसे भावकर्मरूप स्वयं परिणमता है, किन्तु वह अपना स्वभाव नहीं है। द्रव्यदृष्टिसे देखे तो विभाव भी अपनेसे भिन्न है तथापि उसके साथ

जिसे एकत्वबुद्धि है वह परकी ओर दृष्टि करके खड़ा है।

किसीको ऐसा लगे कि मैं सबसे भिन्न पड़ा हूँ और मात्र विभावके साथ एकत्वबुद्धि है, इतना ही बाकी रहा है। परन्तु यदि वह एक विभावमें भी एकत्वबुद्धि कर रहा है तो उसे सबके साथ एकत्वबुद्धि बनी हुई ही है। और जब विभावसे छूटता है तब सबसे छूट जाता है। (स्वानुभूतिदर्शन-३४४)



प्रश्न :- क्या आपका यह कहना है कि जबतक विभावभावमें दृष्टि है, तबतक परमें ही दृष्टि लगी है ?

समाधान :- हाँ, परकी ओर दृष्टि लगी है, उसकी दृष्टिकी ही दिशा ही परकी ओर है, दृष्टिकी दिशा स्वकी ओर आयी ही नहीं; स्वको ग्रहण किया ही नहीं, उसने दृष्टि की दिशा नहीं बदली है। यदि दृष्टिकी दिशा परकी ओर है तो उसमें समस्त पर आ जाते हैं। (स्वानुभूतिदर्शन-३४५)



प्रश्न :- परपदार्थ मेरे नहीं हैं। ऐसा विचार करके निर्णय तो किया है; फिर भी परपदार्थों से सच्चा भेदज्ञान क्यों नहीं होता ?

समाधान :- यह सब घर-आवास-कुटुम्बादि मेरे नहीं हैं-ऐसा वैराग्य तो जीवने अनेकबार किया है तथा शरीरादि समस्त परपदार्थ मेरे नहीं हैं, पर हैं-ऐसा भी विचार किया है, वह विचार करके भिन्न होता है किन्तु उसकी परिणति की परके साथ एकता हो रही है तबतक एकत्वबुद्धि खड़ी ही है; और विकल्पके साथ एकत्वबुद्धि है तो सबके साथ भी एकत्वबुद्धि है। उसे शरीरमें कुछ होता है तो वह विचारता है कि मैं शरीर से भिन्न हूँ... भिन्न हूँ; परन्तु सहज भेदज्ञान रहना चाहिये वह नहीं रहता। इसप्रकार विचारसे भिन्न होता है, किन्तु वास्तविक भेदज्ञानकी परिणति उसके नहीं है। (स्वानुभूतिदर्शन-३४६)



# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत-२५३९ अंक-१९२, वर्ष-१७, सितम्बर-२०१३

भादों वदी ११, बुधवार, दि.२७-९-१९७८, बहिनश्री के वचनमृत-  
२७१ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीका प्रवचन, प्रवचन-१०२

२७१। (एक मुनिका) पत्र आया है। प्रवचन के पश्चात् पढ़ने जैसा है। 'जालना' के है न? चातुर्मास। कई बार आते हैं न? हमलोगने उन्हें पुस्तकें भेजी हैं। अभी तक मिली तो नहीं हैं। उनका पत्र (आया है जिसमें) बहुत प्रमोद व्यक्त किया है। पत्रमें लिखा है कि मैं कब वहाँ आऊँ? आहा..हा..! ऐसी बातें। बीस साल... आपका साहित्य पढ़कर जो मुझे आनंद आया है वैसा आनंद कभी नहीं आया। बीस साल की दीक्षा है। दिगम्बर। बापू! यह मार्ग कोई न्यारा, भाई! आहा..हा..! प्रवचन के बाद पढ़ना यहीं पर पड़ा है कागज।

यहाँ कहते हैं, देखो! 'जिसकी जिसे तन्मयता से लगन हो उसे वह नहीं भूलता।' सिद्धांत कहा। जिसका तन्मयरूप से रस हो अर्थात् जिसकी जरूरत लगे, उसकी लगन लगे बिना रहे नहीं। आहा..हा..! 'जिसकी जिसे तन्मयता से लगन हो...' आहा..हा..! 'उसे वह नहीं भूलता। 'यह शरीर सो मैं' वह भूलता नहीं।' आहा..हा..! 'नींद में भी शरीर के नाम से बुलाये तो उत्तर देता है।' आहा..हा..! नाम रखे उसका 'मंगलदास'। 'मंगलदास'! तो कहेगा हूँ! तुरंत उत्तर देगा। जबकि यह तो मिट्टी-धूल है। आहा..हा..! जड़ की पर्याय है। आहा..हा..! एकबार बिच्छू के डंखरूप इन्हीं रजकणोंने परिणमन किया था, उसीका अबी जड़रूप ऐसा परिणमन है। आहा..हा..! परन्तु इसको अपना माना है तो नींद में भी अगर किसीने आवाज दी तो कहेगा हूँ! आहा..हा..! 'क्योंकि शरीर के साथ तन्मयता की मान्यता का अनादि अभ्यास है।' आहा..हा..! बाहर में यह देह सो मैं हूँ, जबकि अंतरमें मैं चीज आनंदकंद हूँ। इसकी तो खबर ही नहीं। इसकी तो दृष्टि भी नहीं, रुचि भी नहीं और तन्मयता भी नहीं। आहा..हा..! ऐसी बात है। 'तन्मयता की मान्यता का अनादि अभ्यास है।' आहा..हा..! शरीर की सुंदरता, रूप देखे तो ऐसा लगे कि यह मैं हूँ। और दूसरेके शरीर की सुंदरता देखते हुए वही आत्मा ऐसा है ऐसा जीव को (लगता है)। आहा..हा..! ऐसी तन्मयता का अनादिसे अभ्यास है।

'अनभ्यस्त...' भगवानआत्मा अनभ्यस्त है। 'ज्ञायक के अंदर जाने के लिये...' आहा..हा..! भगवान ज्ञायकस्वरूप चिद्बिंब सच्चिदानंद प्रभु! शाश्वत अंदर में ध्रुव चीज है। आहा..हा..! एक समय की जो वर्तमान पर्याय है, जिसके समीप में भगवान बिराजमान हैं, परन्तु जिसकी ओर तेरी



नजर नहीं है। आहा..हा..! 'अनभ्यस्त ज्ञायक के अन्दर जाने के लिये सूक्ष्म होना पड़ता है।' आहा..हा..! ज्ञान में उपयोग को सूक्ष्म करना पड़ता है। स्व को पकड़ सके ऐसी ज्ञानधारा को सूक्ष्म करनी पड़ती है। अरे..! भवभ्रमण कर करके.. इसमें आया न? भवभ्रमण कर-करके तुझे इतना दुःख हुआ है। ज्ञानी को... आहा..हा..! अरे..! भाई! तू किसमें राजी होकर अटक गया? आहा..हा..! इस भवभ्रमण का कारण राग, शरीर मेरा, राग मेरा आहा..हा..! उसमें तू अटका है, प्रभु! अनन्त भव परिभ्रमण का वह कारण है। आहा..हा..! उसमें तेरी तन्मयता है। आहा..हा..!

भगवानआत्मा चैतन्य ज्ञायकस्वरूप (उसके) अनभ्यस्तपने के कारण...आहा..हा..! 'सूक्ष्म होना पड़ता है।' पर से भिन्न, राग से भिन्न, अपने ज्ञायक स्वभाव से अभिन्न प्रभु! उसे पकड़ने के लिये ज्ञान के व्यापार को सूक्ष्म करना पड़ता है। आहा..हा..! क्योंकि पर्याय के समीप ही पूरा द्रव्य पड़ा है। परन्तु अनादि से पर्याय प्रत्ययी झुकाव, पर्यायमूढ एक समय की वर्तमान पर्याय में जीव का अनादि से व्यापार चलता है, इस पर्याय के समीप में भगवान ध्रुव मौजूद है। परन्तु अनभ्यस्त होनेसे उसे पकड़ने के लिये उपयोग को सूक्ष्म करना पड़ता है। आहा..हा..!

भाईने बहुत अच्छा लिखा है उसमें। ऐसा कि, यह बहिनश्री की वाणी, एक एक अक्षर मनन करने योग्य है ऐसा लिखा है। बीस साल का दीक्षित है। लिखता है कि, मैंने बीस साल से दीक्षा ली है, परन्तु आपका साहित्य देखकर मुझे जो आनंद आया है वैसा आनंद कभी नहीं आया। आनंद अर्थात् खुशी, अंतरंग आनंद तो क्या... आहा..हा..! प्रभु मार्ग तो ऐसा है, भाई! दुनिया को ठीक लगे, न लगे, दुष्कर लगे परन्तु भगवानआत्मा इसका हित करना हो तो उपयोग को सूक्ष्म करके अभ्यास करना पड़ता है। उसने

विशेष में यह भी पूछा है कि, 'मेरा हित कैसे हो?' यह मुझे बताईये। अरे..! भाई! साधु नग्न हुआ और उसकी क्रिया.. पंचमहाव्रत की क्रिया का पालन भी कहाँ सही है? वर्तमान में तो उद्देशिक आहार लेते हैं। आहा..हा..!

यहाँ तो भगवान विकल्प के वेदन बिना की चीज है। बाहर में नग्न होना सो नहीं। अंतरंग में नग्न है। आहा..हा..! शुभविकल्प जो है, उससे भी जो भिन्न चीज है और विकल्प से भी जो जानने में नहीं आता। आहा..हा..! इसके लिये सूक्ष्म निर्विकल्प उपयोग करना पड़ता है। भाई! ऐसी बात है, भाई! दुनिया मानो न मानो, दुनिया से क्या लेना-देना है? आहा..हा..!

शरीर का लक्ष छोड़कर। लक्ष्य नाम उस तरफ का उपयोग। राग की ओर का लक्ष छोड़कर भगवान अंतर में एक समय की पर्याय के मूल में है। पर्याय उपर है और ध्रुव है वह पर्याय से नीचे (मूल)में है। आहा..हा..! तल में भगवान बिराजमान हैं। पर्याय तो द्रव्य से ऊपर तिरती है। भाई! कलश में आता है? है न? पानी के दल में तरंग ऊपर-ऊपर उठती है। ये तरंगे अंदर में नहीं प्रवेश कर सकती। आहा..हा..! वैसे वर्तमान पर्याय ध्रुव द्रव्य के ऊपर तैरती है। वह अंतरंग में प्रवेश नहीं कर सकती। भीतर में प्रवेश नहीं कर सकती। परन्तु वह पर्याय को सूक्ष्म करके द्रव्य को पकड़ सकती है। द्रव्य में प्रवेश नहीं कर सकती। समझ में आया? आहा..हा..! पर्याय में कार्य होता है न? ध्रुव तो कूटस्थ वस्तु है। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- तन्मय होकर रस लेने योग्य है?

पूज्य गुरुदेवश्री :- तन्मय नाम उस ओर झुकना। तन्मय का अर्थ ऐसा। तन्मय मतलब द्रव्य एकमेक हो जाये सो बात नहीं। ऊपर है। तन्मय का अर्थ, जो राग और पर में तन्मय है, मान्यता में एकत्व माना है उस मान्यता में पर से भिन्नता (करे)। तन्मय नाम एकता करना। वह तन्मय है।

एकता की पर्याय द्रव्य में एकमेक हो जाये वैसे नहीं। आहा..हा..! ऐसी बातें। सर्वज्ञ के अलावा यह बात कहीं नहीं है। समझ में आया? सम्यक्दर्शन की पर्याय त्रिकाली द्रव्य को प्रतीत करती है परन्तु वह पर्याय द्रव्य में प्रवेश नहीं कर लेती। आहा..हा..! सूक्ष्म उपयोग है, वह (स्व को) पकड़ती है परन्तु सूक्ष्म उपयोग की पर्याय द्रव्यमें एकमेक नहीं होती। आहा..हा..! समझ में आया?

‘सूक्ष्म होना पड़ता है।’ आहा..हा..! जहाँ प्रभु शुद्ध द्रव्यस्वभाव चैतन्यबिंब पड़ा है, उसे पकड़ने के लिये सूक्ष्म-सूक्ष्म, ज्ञानका व्यापार सूक्ष्म करना पड़ता है। आहा..हा..! ‘धीर होना पड़ता है।’ है? धीर... धीर... आहा..हा..! बुद्धि-पर्याय। २ (अर्थात्) अंतरमें प्रेरित करे वह धीर। समझ में आया? धीर... धी-ज्ञान की पर्याय-बुद्धि। धी..र.. वह अंतरमें प्रेरित करे। आहा..हा..! ऐसी धीर है। आहा..हा..! दुनिया से मान लेना हो तो यह चीज नहीं प्राप्त होगी। आहा..हा..! यश के लिये, नाम के लिये प्रसिद्धि करे, प्रभु! प्रसिद्धि तो राग है। आहा..हा..!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं कि ‘धीर होना पड़ता है,...’ आहा..हा..! वस्तु अखण्ड आनंदकंद ध्रुव तत्त्व जो नित्य है, उसे पर्याय में पकड़ने के लिये धीर होना पड़ता है। आहा..हा..! ‘स्थिर होना पड़ता है।’ ध्यान जमता है ऐसा कहते हैं। ध्यान में मिलता है न? आत्मतत्त्व का सम्यक्दर्शन ध्यान में होता है। आहा..हा..! ज्ञान की पर्याय को धैर्य से सावधानीपूर्वक अंतर में जाना पड़ता है। तो वहाँ ध्यान में आ जाती है। आहा..हा..! अरे..! ऐसी बात। अरे..! भाई! इसके सिवा तेरे जन्म-मरण नहीं मिटेंगे, बापू! कौआ और कुत्ते के भव.. आहा..हा..! कंथवा (एक जीव) जैसे छोटी-छोटी जीवायोनि में तेरे अनन्त भव हुए। भूल गया, प्रभु! भूल गया इसलिये

नहीं था ऐसा कैसे कह सकते हैं? आहा..हा..! यह भवभ्रमण मिटाना हो तो अंतर में धीर होकर सूक्ष्म उपयोग करके अंदर आत्मा को पकड़। अर्थात् वर्तमान ज्ञान की पर्याय ध्यानमें उसे ध्येय बनाना। ऐसी बातें हैं। ज्ञान की पर्याय ध्यान, उसमें त्रिकाली वस्तु को ज्ञेय बनाना। ऐसी बातें हैं। आहा..हा..!

‘स्थिर होना पड़ता है।’ आहा..हा..! ‘वह कठिन लगता है।’ आहा..हा..! ‘बाह्य कार्योका अभ्यास है...’ यह करूँ, वह करूँ, राग किये, पुण्य किये, पाप किये। ‘इसलिये सरल लगते हैं’ बाह्य(कार्य)। अनादि से राग और पुण्य और पाप के भाव, ‘बाह्य कार्योका अभ्यास है इसलिये सरल लगते हैं।’ अभ्यास है न? इसका अभ्यास नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया? भेद अभ्यास। आता है न? भेद अभ्यास। ३१ गाथामें। द्रव्येन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय को कैसे जीतना? कि निर्मल भेदज्ञान की प्रविणता से ऐसा पाठ है। निर्मल भेदज्ञान की कौशल्यता से। कौशल्य शब्द पड़ा है। व्याख्यान चल गया। जिस ज्ञानमें, पर्याय में स्वपरप्रकाशक स्वभाव होनेपर भी वह पर्याय पर का ज्ञान करती है, वह मिथ्याज्ञान है। (उसमें) स्वज्ञेय नहीं आया। आहा..हा..! जो ज्ञान अंतर में ज्ञेय बनाकर यह ज्ञेय है ऐसा ज्ञान-ऐसा समझाने के लिये कहना नहीं पड़ता। यह ज्ञेय है और मैं ज्ञान हूँ, ऐसा भेद वहाँ नहीं है। समझाना कैसे? आहा..हा..! सूक्ष्म बात है। आहा..हा..!

‘बाह्यकार्योका अभ्यास है इसलिये सरल लगते हैं।’ अभ्यास है इसलिये सरल लगते हैं। कल कहा था। ‘पद्मनदिपंचविंशति’में लिखा है कि लक्ष्मी मिलना, अनुकूल शरीर मिलना यह दुर्लभ है। क्योंकि इसमें राग कार्यकारी नहीं होता। सो तो पूर्वकर्म के आधिनि है। जबकि भगवानआत्मा का मिलना वह सुलभ है। क्योंकि वह तो अपनी चीज है। इसमें किसी राग या कर्म की सहाय मिले तो इसकी प्राप्ति हो ऐसी वह चीज नहीं

है। एकतरफ कहे सम्यक्दर्शन दुर्लभबोधि। बोधिदुर्लभ। एक तरफ से ऐसा कहे कि, परवस्तु दुर्लभ। क्योंकि परवस्तु का मिलना यह वर्तमान रागरूप पुरुषार्थ से नहीं होता। वह तो पूर्व के पुण्य हो तो मिलता है। और आत्मा को अपनी स्वयं की प्राप्ति करने में किसी पर की अपेक्षा नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया? वह अपनी चीज है, अपने सूक्ष्म उपयोग से प्राप्त होती है। सो तो स्वयं के सूक्ष्म उपयोग से प्राप्त होती है। किसी पर की अपेक्षा से प्राप्त हो ऐसी दुर्लभ चीज नहीं है। आहा..हा..! प्रथम अपने ज्ञान में निर्धार तो करें कि, वस्तु यह है। इसके बिना सब व्यर्थ हैं। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- सुलभ है कि दुर्लभ है? दो बात की।

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ! दो बात की। एक दुर्लभ है और यह सुलभ है। यह दुर्लभ है जो अनन्त बार सुलभ होकर मिली है। संप्रदायमें कहते थे। 'उतराध्ययन' का चौदहवाँ अध्ययन है। लड़कों के बारे में है। ब्राह्मिन के लड़के लोग दीक्षा लेते हैं। है तो सारा कल्पित। परन्तु श्वेताम्बर के 'उतराध्ययन' में (आता है)। श्वेताम्बर में उतराध्ययन सूत्र है न? इसके चौदहवें अध्ययन में ऐसा आता है। ब्राह्मिन के लड़के को जातिस्मरण होता है, तो उसको दीक्षित होने का भाव होता है। अंतर चारित्र। फिर अपनी माता को कहता है, माता! 'अजेवधम्म पडिवज्जयामोजहिं...' यह तो संप्रदाय में चलता था। 'बोटादभे तो पंद्रहसो-हजारों लोगों की सभा में (संवत्) १९७७-७६। लड़का कहता है माता! 'अजेवधम्म पडिवज्जयामो' माता! मैं आत्मा का चारित्र अंगीकार करता हूँ। जनेता! अब दूसरा भव नहीं करूँगा। माता! जगत में अभीतक अप्राप्त ऐसी कौनसी चीज रह गई है? अनन्तबार अनन्त चीज मिल गई, प्रभु! आहा..हा..! माता! जगतमें कौनसी चीज अप्राप्य रही है? स्वर्ग के भव, सुंदर शरीर, वज्रनारायण संघयण, ऐसा-

ऐसा अनन्त बार मिला है, प्रभु! इसमें कोई अभीतक अप्राप्त चीज नहीं है। माता! श्रद्धापूर्वक मेरे प्रति का राग छोड़ दे। मैं तो वनमें चला आहा..! मेरे भगवान को साधने के लिये जहाँ मनुष्यों का आवागमन भी नहीं है, माता! मैं तो वहाँ जाऊँगा।

आता है न, भाई! उसमें। 'प्रवचनसार' में इजाजत लेते हैं। माता के पास इजाजत माँगते हैं। स्त्री के पास भी इजाजत लेते हैं। चरणानुयोगसूचक चूलिका। स्त्री के पास इजाजत माँगते हैं। मेरा नाथ मेरे पास है। मैं तो आनंदकंद हूँ। मुझे भान हुआ है। हे स्त्री! इस शरीर को रंजित करनेवाली तू, हाँ! मुझे रंजित करनेवाली नहीं। आहा..हा..! मैं अपनी आनंद की अनुभूति... यह अनुभूति त्रिकाल स्वभाव है! मेरा अनुभव त्रिकाल अनुभूतिस्वरूप चैतन्य हूँ। इसके पास मैं जा रहा हूँ। समझ में आया? आहा..हा..! हे स्त्री! सुंदर स्त्री हो, चक्रवर्ती की स्त्री हो, चक्रवर्ती के लड़के की स्त्री हो। आहा..हा..! परन्तु मैं तो अब हे स्त्री! इस शरीर को रंजन करने में (तू सहकार करती हो) आहा..हा..! मेरा आत्मा, मेरी अनुभूति जो त्रिकाल है... आहा..हा..! इसके पास अब मैं जा रहा हूँ। स्त्री! मेरे प्रति का राग छोड़ दे। मैं राग से मर चूका हूँ। तेरे प्रत्ययी राग से मर चूका हूँ। उसे अब तू जीवित नहीं कर सकेगी। आहा..हा..! समझमें आया ?

यहाँ कहते हैं 'बाह्य कार्योंका अभ्यास है इसलिये सरल लगते हैं। लेकिन जब भी कर तब तुझे ही करना है।' आहा..हा..! जब भी करना पड़ेगा तब प्रभु! तुझे ही अंतर में जाने का प्रयत्न करना होगा। दूसरा कोई उपाय नहीं है। क्योंकि जहाँ अंतरमें भगवानआत्मा बिराजमान है, वहाँ दृष्टि को ले जाना। यह दृष्टि जो बाहर में भटक रही है, आहा..हा..! व्यभिचारिणी दृष्टि। यह दृष्टि रागादि के निमित्त के संग चढ़ गई है। व्यभिचार नहीं आता? निर्जरा अधिकार में आता है। व्यभिचारी अनेकपना व्यभिचारपना। २०३

गाथा। निर्जरा अधिकार। आहा..हा..! यह राग की क्रिया के परिणमन के साथ एकताबुद्धि वह व्यभिचार है। आहा..हा..! मेरी अनुभूति... यह अनुभूति कौन? त्रिकाल स्वभाव हूँ। ७३ गाथा में आता है न? 'समयसार' की ७३ गाथा है। राग से तो मैं भिन्न हूँ परन्तु पर्याय में षट्कारक का निर्मल परिणमन होता है। शरीर-राग से तो भिन्न हूँ, परन्तु पर्याय में षट्कारक का स्वतंत्र (परिणमन होता है)। पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म, पर्याय करण, पर्याय अपादान, पर्याय संप्रदान, पर्याय अधिकरण। एक समय की पर्याय जो निर्मल है उसका जो षट्कारकरूप परिणमन है, उससे मेरी अनुभूति भिन्न है। आहा..हा..! अनुभूति का अर्थ द्रव्य! आहा..हा..! ऐसी बातें हैं।

पर्याय में उसी काल में निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है और निर्मल पर्याय कर्ता निर्मल पर्याय वह पर्याय का कार्य, पर्याय का कार्य। वह पर्याय का कर्म, पर्याय का संप्रदान - होकर अपने में रही। अपादान पर्याय से पर्याय हुई, पर्याय अधिकरण पर्याय का आधार पर्याय। मैं द्रव्य-गुण नहीं। आहा..हा..! ऐसा मेरा भगवान, अनुभूति स्वभावरूप त्रिकाल, वह मैं हूँ। समझ में आया? आहा..हा..! भाई! सत्यमार्ग सुनने मिलना कठिन है, भाई! अरे! क्या हो? धर्म के बहाने भी धोखा खाकर चले गये हैं। आहा..हा..!

भगवानआत्मा.. आहा..हा..! दुःख की पर्याय से तो मैं भिन्न हूँ। परन्तु आनंद की पर्याय जिस पर्याय में होती है इससे भी मैं अनुभूति वस्तु तो भिन्न हूँ। पर्याय में मेरा द्रव्य कभी एकमेक नहीं हुआ। आहा..हा..! ऐसी बातें हैं। अरे..! आहा..हा..!

मीराबाई का नाटक देखने एकबार गये थे। (संवत्) १९६४-६५ की साल की बात है। वहाँ 'पालेज' में तो हमलोग स्थानकवासी थे न! और घर भी बड़ा था। तीस आदमी और साधु-बाधु आते तो हमें देखभाल करनी पड़ती थी।

स्थानकवासी साधु आते थे। 'भरुच' गये थे। मैं और भाई दोनों थे। भाई है न? इसका बाप। अभी तो भाई के पास ८० लाख रुपये हैं। वहाँ दोनों गये थे फिर साधु का पता तो चला। 'भरुच' के स्टेशन के सामने धर्मशाला है। गाँव में पता किया, वहाँ जा ही रहे थे कि मिल गये। फिर क्या समय था हमारे पास। रात को मीराबाई का नाटक था। मीराबाई का नाटक।

उसमें मीराबाई जब राणा को कहती है। राणा कहता है, हे मीरा! तू मेरे महल में आ। तुझे मैं पटरानी बनाऊँगा। आहा..हा..! ऐसे तो नाटक थे। मीराबाई कहती हैं, एक प्रकार की ईश्वर भक्ति, उस अपेक्षा से। वह चीज तो दूसरी। 'घेली थई रे राणा घेली थई हूँ साधुडा ने संग राणा घेली थई।' मैं पागल हो गई हूँ अब। तेरे कामकी नहीं रही। तेरे महल में नहीं आ सकूँगी। आहा..हा..! ऐसा नाटकमें, हूँ! भाई! सब देखते थे और हम तो पुस्तक रखते थे। नाटक के पैसे तो देते ही थे परन्तु (किताब भी खरीदते थे)। भाई! आप क्या बोल रहे हो यह समझे बिना हम नहीं बैठेंगे। आपकी किताब लाईये। इसमें ऐसा आया। आहा..हा..! मीराबाई के रूप में वहाँ होता तो आदमी ही है, परन्तु ऐसा बोलते थे। राणा ने कहा कि हे मीरा। है न मीराबाई की खुमारी। वहाँ एक बार गये थे। मेरे महल में आ। राणा! मैं तो साधु के संग में पागल हुई हूँ। मैं तो पागल हो गई हूँ। मेरी ईश्वरभक्ति में पागल हुई हूँ। वैसे यहाँ आत्मा नाम ईश्वर नाम भगवानआत्मा की भक्ति में पागल, वह किसीके काम का नहीं रहा। ऐसी बात है, प्रभु! आहा..हा..!

यहाँ कहते हैं 'जब भी कर तब तुझे ही करना है।' यह भगवान को पकड़ना यह तेरा काम है। दूसरा कोई सहाय करे, गुरु की कृपा हो जाये (ऐसा है नहीं) आहा..हा..! यह २७१ बोल हुआ।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार  
बोल-६३३ पर हुआ भाववाही प्रवचन,  
दि.१५-०७-१९८४, प्रवचन नं. ३६६

६३३. 'वर्तमान संयोगको देखनेवाले स्व को चूकते हैं, अतः दुःखी होते हैं। संयोग के कारण से कोई दुःखी-सुखी नहीं होता।' बहुत महान सिद्धांत है। और पूरी दुनिया के सामने इस सिद्धांत की बगावत है। सारी दुनिया ऐसा मानती है कि संयोग की अनुकूलता और संयोगिक प्रतिकूलता ही सुख-दुःख का कारण है। इसीवजह से प्राणीमात्र, केवल मनुष्यमात्र नहीं परन्तु प्राणीमात्र संयोग जुटाने में लगे हुए हैं और परिभ्रमण करते हैं। प्राणीमात्र यह कार्य कर रहा है। चींटी भी आहार के कण की खोज में अपने बिल से बाहर निकल पड़ती है, हाथी जंगल में जाता है, मनुष्य दुकान जाता है। बड़े-बड़े सत्ताधारी मांघाताओं से लेकर आम आदमी, झोंपड़ी में रहनेवाला आदमी भी संयोगों की वृद्धि करने में, संयोगों को सुधारने में, हो सके उतने संयोगों को अनुकूल बनाने में सारी दुनिया को अनुकूल बनाने का इसके पीछे अभिप्राय पड़ा है। इसकी प्राप्ति से मुझे सुख होगा ऐसी जीवोंकी मनघडंत कल्पना-मान्यता है। हालाँकि इससे किसीको तृप्ति या सुख की प्राप्ति नहीं होती। हरएक स्तर के संयोगोंवाले, उच्चस्तर के नीच स्तर के संयोगवाले जीव देखे जाते हैं। परन्तु कोई सुखी नहीं दिखाई देता है। सब यही कहते हुए दिखाई देंगे। या सबलोग जो सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्नवान दिखाई देते हैं यह परिस्थिति इस बात का सबूत है कि, वह वर्तमान में सुखी नहीं है। उसका विशेष सुख प्राप्ति का प्रयत्न इस बात का गवाह है कि वह अभीतक सुखी नहीं हुआ है। इसके सामने (उपायरूप) यह सिद्धांत है। बहुत मूल्यवान विषय है।

भाई! संयोग को लेकर कोई सुख-दुःख नहीं है। तो क्या संयोगिक अनुकूलता और संयोगिक प्रतिकूलता जैसा कुछ दुनिया में है ही नहीं क्या? कि संयोग के

प्रकार अनेक हैं। संयोग के विभिन्न प्रकार जरूर हैं परन्तु कोई सुख के कारण या कोई दुःख के कारण है, सो बात ठीक नहीं है। एक आदमी को एक रंग नापसंद है तो वही दूसरे को पसंद है—यह सूचित करता है कि, कोई भी रंग अच्छा नहीं है या कोई बुरा नहीं है। इसी दृष्टांत से सभी ज्ञेयों को समझ लो। जीव अच्छेपने की कल्पना कर लेता है कि यह अच्छा। फेशन क्यों बदलती रहती है? जबकि वह तो शोभा का विषय है। ये कपड़ों की, जवाहरात की, बाल बनाने की, चश्मे से लेकर जितनी भी फेशन होती है वह बदलती है न? बजाय इसके जो अच्छी हो वह कायम रहनी चाहिये। क्या इतने-इतने काल से इतना भी नक्की नहीं हो पाया कि, यह चीज अच्छी! ये इतने विशेष बुद्धिमान इकट्टे होकर इतना रजिस्टर नहीं कर सके कि, भाई! इसे हमेशा अच्छा कहना और इसके सिवा जो भी है उसे अच्छा नहीं माना जाये। सब बदलता ही रहता है! यह ऐसा सूचित करता है कि, जीव अच्छे-बूरे की केवल कल्पना ही करता है और कुछ नहीं।

सभी प्रकार के संयोग में जीव सुखी-दुःखी संयोग के कारण हरगीज नहीं है। ऐसा है। यह तो एक व्यवहारिक जीवन में भी जीने की कला सीख लेने जैसा विषय है। यदि अध्यात्म में प्रवेश करे जब तो इतनी शांति रहे कि फिर Blood pressure होने का सवाल ही नहीं है। ये Highper Tension होता है न लोगों को। वह अशांति का कारण है। डोक्टर कहते हैं कि, भाई! आप चिंता करनी छोड़ दीजिये, तब कुछ मरीज तो कहते हैं कि, लेकिन हमें किसी बात की चिंता है ही नहीं। हम किसी भी प्रकार की चिंता नहीं करते हैं फिर भी पारा ऊपर चढ़ जाता है इसका क्या करे? तब डोक्टर कहते हैं, आपको पता नहीं

चलता होगा लेकिन ऐसी कोई चिंता अंदर में चलती होगी। वह भी तुम्हका लड़ा देता है, और तो करे भी क्या? होती ही है जीवको, होती ही है उसे। इतनी उपाधि करता है कि इसका हिसाब-किताब जीव को समझ में नहीं आता है। वास्तव में तीव्र एकताबुद्धि से, तीव्ररस से संयोग में लगाव करता है। अरे..! सुख के, हर्ष के वेदनमें Blood pressure हो जाता है। सिर्फ दुःख की उपाधि में होता है सो बात नहीं है। सुख में तीव्र हर्ष हो जाये और रस तीव्र हो जाये, अनुकूलताएँ बढ़ती चली जाये। दिन-प्रतिदिन अनुकूलताएँ बढ़ती जाये। मुश्किल से आजिवीका पूर्ति मिलता हो या देनदारी हो गई हो इसमें से अनुकूलताएँ होनी शुरू हो जाये। दुकान, धंधा, कारखाना, सगे-संबंधी, समधी इत्यादि सब बढ़ता चला जाये। उसमें जो हर्ष की मात्रा बढ़ती है ऐसे में Blood pressure की बिमारी हो जाती है। ऐसे तो बहुत से किस्से देखे हैं। क्योंकि वैसी उपाधियों का जीव को रस चढ़ गया होता है। ऐसी उपाधियों में उसे तीव्र रस आया रहता है।

प्रतिकूलताओं की कल्पनावाले को तो होवे ही उसमें तो कोई आश्चर्य नहीं है परन्तु अनुकूलता की कल्पनामें भी जो तीव्र रस है वह उसवक्त भी दुःख है और दुःख की परम्परा का एक कारण है। पीछे दुःख की कतार लगी है। अतः किसी भी हालात में शांति का रास्ता ढूँढ लेने जैसा है। यह बात अगर जीव की समझ में न आयी तो उसे जीवन जीना नहीं सिखा। शांति से जीना उसने नहीं सिखा। यह बात निश्चित है। अतः कोई जीव ऐसा मानता हो कि, मैं बुद्धिवान हूँ अथवा विचारवान हूँ, तो उसे सर्वप्रथम अपनी शांति, जीवन की शांति, परिणमन की शांति की राह समझ लेनी चाहिये और इसकी कला सिख लेनी चाहिये। बाद में दूसरी सब बातें हैं।

मुमुक्षु :- कहते हैं कि इसमें जो हमें शांति लगती है...

पूज्य भाईश्री :- फिर ऐसा क्यों हुआ? अगर सचमें शांति लगती है तो नतीजा तो एकदम स्थूल सामने ही है। जो खून की गति speed पकड़ती है जिसमें तेरा परिणमन निमित्त है वह स्पष्ट साबित करता है

कि तुझे शांति नहीं है। लेकिन जीव को रस के प्रवाह में दुःख में भी सुख की कल्पना होती है।

जब जिस-जिस प्रसंग का व संयोग का रस वृद्धिगत हो जाता है तब दुःख में भी सुख की कल्पना हो जाती है। लेकिन भाई! ऐसी तेरी क्षणिक कल्पना की निवृत्ति होने पश्चात् पीछे कितने दुःख में तू जा गिरेगा इसका कोई अता-पता लगनेवाला नहीं है। ऐसा है। यह तो पूरा दीर्घदृष्टि का विषय है। उपलक दृष्टिवाले का यह विषय नहीं है। जो बहुत दूर की सोच सकता है, अपने अनंतकाल की मौजूदगी को देख सके, सोच सके और इसकी व्यवस्था बिठाना चाहता हो उसके लिये यह विषय है। पाँच-पच्चीस साल की ही जो सोचता है उसके लिये यह लाइन नहीं है।

मुमुक्षु :- घन के विषय में तो कल्पना समझ में आती है, परन्तु अशांता के उदयमें शरीरमें तीव्र वेदना हो रही हो, उस वेदन को कल्पना कैसे कह सकते हैं?

पूज्य भाईश्री :- वेदना का ज्ञान होता है। कल्पना हो गई है कि जैसे मुझे हो रही है। 'मुझे हो रही है'—यह कल्पना हुई है। ज्ञान में वेदना नहीं हुई। वेदना व ज्ञान एकमेक हो जाये तो कभी अलग होवे ही नहीं। परन्तु वेदना खत्म हो जाती है और ज्ञान कोरा का कोरा रह जाता है, ज्ञान जैसा का वैसा रह जाता है। पानी में तेल डाला। मिल गया? दूध में पानी डाला तो क्या मिल गया? कहते हैं कि, मिला ही नहीं। पानी कभी दूध नहीं हो जाता। पानी अगर दूध हो जाता तो कोई कम क्यों डालता? डालेगा कम? जितना चाहे उतना डालते ही जाये। बोरतालाब पूरा खाली हो जाये। यदि पानीमें से दूध बना सकते तो कोई कम नहीं डालता। पानी का भाव दूध जितना ही होता। आज आपको पानी नल से मिलता है वह नहीं मिलता।

मुमुक्षु :- दृष्टांत तो समझमें आता है परन्तु वेदना और ज्ञान...

पूज्य भाईश्री :- यह अनुभव से समझना कि नहीं? दृष्टांत मात्र क्यों समझते हो? हमारे अनुभव से ही समझे। वह ऐसे कि वेदना चली जाती है और ज्ञान रह जाता है कि नहीं? यह कहाँ दृष्टांत है?



मुमुक्षु :- केवल वेदनामय खुदको समझ रखा है।

पूज्य भाईश्री :- वहीं पकड़ में आ जाता है। ज्ञान वहाँ भ्रांति से पकड़ में आ गया है ऐसा कहना है। इसके दृष्टांत देखे जा सकते हैं।

मुमुक्षु :- साथ-साथ परिणामन में एकत्वबुद्धि भी तो है न?

पूज्य भाईश्री :- पूरी की पूरी एकत्वबुद्धि है। परन्तु कषायवश भी जीव वेदना की उपेक्षा कर लेता है। ये बाबा लोग क्या करते हैं? अभी दो दिन पहले ही एक बाबा आया था बड़ा पत्थर लेकर। सीने में मारता था। सीनेमें से खून की धाराएँ बहती थी। बोलता था, पैसे दीजिये वरना मैं यहाँ से नहीं जाऊँगा।

मुमुक्षु :- कषाय हुआ न?

पूज्य भाईश्री :- कषाय है। पैसा निकलवाने के लिये कषाय है। खुद के ही सीने में पत्थर मारना, चाकू चलाना, छूरा चलाया हुआ हो तो भी उसपर दूसरा मारे। लोग ऐसा देख नहीं सकते इसलिये पैसे दे देते हैं। ऐसा देखना कोई पसंद नहीं करता है। उसे पता है कि, लोगों की pschyology खराब है, मेरी नहीं है। तो इसे कमाई करने का साधन बना लेते हैं। है कि नहीं? वेदना होती है कि नहीं उसे कुछ? चाकू चलाने पर भी वेदना नहीं होती होगी क्या? वह कषाय वश इसे गौण कर सकता है। इतनी उसको practice-अभ्यास है। सकषायदशामें इतनी practice होती है।

तो फिर अकषायदशा की practice हो, उसे ऐसी वेदना का असर न हो तो इसमें कौन-सी बड़ी बात है? इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। सामान्य बात है। वह तो वीतरागदशा है। वह भी अनन्त शक्ति के पिंड के साथ तन्मय हुई दशा है वह तो। अनन्त आनंद में, आनंद का जो सागर है उसमें उपयोग डूबा हुआ है। उसे फिर स्पर्शादि विषय का उसवक्त भान या ख्याल नहीं रहता। शरीर को काटे तो भी पता नहीं चलता। वेदना तो होनी चाहिये थी कि नहीं? निर्विकल्पदशा में पता नहीं चलता। क्योंकि उपयोग से पूरा आत्मा भिन्न अनुभवगोचर होता है। शरीर का पिंड अलग हो चुका है। यह जीव तो क्या है शरीर में पूरा एकाकार

होकर चल रहा है। शरीर के साथ एकाकार होकर जैसे यह शरीर ही मैं हूँ। फिर तो उपाय नहीं है। फिर तो कपड़े में एकाकार होगा कि ऐसे कपड़ेवाला मैं। ऐसी डिजाईन और ऐसे रंगीन कपड़ेवाला मैं और ऐसे जेवर मैंने पहने हैं, ऐसे वहाँ से फिर पूरी कतार लगी है।

मुमुक्षु :- बहुत 'वाला' निकले हैं।

पूज्य भाईश्री :- ये सब पीड़ा के प्रकार से जीव पीड़ित है। वर्तमान वेदना हुई और दुःखी हुआ इसकी वजह जीव स्व को चूकता है। स्व जो कि अनन्त आनंद का नाथ है उसका अवलोकन करना भी जीव चूकता है। जो भी संयोग में देखता है उसमें भाव से प्रवेश कर लेता है। द्रव्य से तो प्रवेश शक्य नहीं है। द्रव्य माने physically तो प्रवेश नहीं हो सकता परन्तु परप्रवेश का भाव ऐसा तन्मय करता है कि जिससे उसे स्वसंवेदनरूप निजज्ञान का अभाव होता है। सद्भाव नहीं होता। यही तो बड़ा सिद्धांत है 'अनुभवप्रकाश'में।

वही बात यहाँ पर ली है कि स्व को चूकता है। उसवक्त स्वयं अपने में सावधानी रखे कि अव्याबाध स्वरूप से ज्ञान का अभेद किला, उसमें मैं बैठा हूँ। ये दुर्ग में बैठते हैं न, किले में? कि, तोप के धमाके भी खाली जाते हैं। वैसे मैं अव्याबाधस्वरूप से ज्ञानदुर्ग में सुरक्षित हूँ। ऐसे अपने अव्याबाधस्वरूप को भूलता है, ज्ञानमय तत्त्व को चूकता है। इसलिये संयोग प्रति लक्षवान जीव दुःखी होता है वरना संयोग को देखनेवाला दुःखी नहीं होता। चाहे संयोग दिखे तो भी। यह बात इसमें आ गई! केवलज्ञानी तीनलोक के संयोगों को देख रहे हैं। अरिहंतदशा में लोक में रहकर देखते हैं। सिद्धदशा में लोकाग्र से भी देखते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार की सुख-दुःख की संवेदना उत्पन्न नहीं होती है।

यह प्रश्न उठना संभव है कि क्या फिर हमें बिलकुल लगाव रहित हो जाना? ठीक! यह रास्ता ही कोई ऐसा लगता है कि सब को लगाव विहिन कर दे? धीट। लगाव रहित जीव दो प्रकार के होते हैं। एक बिलकुल धीट। धीट माने खुद को लाभ-नुकसान का प्रसंग हो तब कुछ नहीं सोचे। लेकिन दूसरे के लिये जैसे लगावरहित। और दूसरा, ज्ञानियों की स्थिति

ऐसी होती है कि जिनको मोहजनित लगाव नहीं होता बल्कि ज्ञानजनित लगाव होता है परन्तु मोहयुक्त लगाव नहीं होता। ज्ञानजनित करुणा है अपितु मोहजनित लगाव नहीं होता। सर्व जीवों का हित हो, सर्व जीव निजानंद व आत्मिकसुख को प्राप्त हो ऐसी करुणा तो सहज ही ज्ञानियों को, साधकों को होती है। ज्ञानी को किसीके भी प्रति संयोग में एकाकार होकर दुःखी हो, जैसे मोहाधिन सब रहें कि जिससे दुःख हो ऐसे कोई दुःखी हो ऐसा भाव किसीके प्रति नहीं होता। इसलिये अज्ञानवश जो ममत्व करता है और फिर उसे प्रेम या लगाव का सुहावना नाम दे देते हैं इस बात पर विचार करना चाहिये। विचारणीय विषय है। योग्य नहीं है इसलिये जरूर विचार करने योग्य है।

मुमुक्षु :- हकीकत में तो लगाव का बदला भी जीव चाहता है। खुद को ऐसी अपेक्षा है।

पूज्य भाईश्री :- सो तो है ही। फिर वैसी इच्छा तो रहती ही है। जो दूसरे का कार्य करता है वह ऐसे बदले की इच्छा प्रायः रखता है।

एक बहुत सेवाभावी आदमी थे। अभी स्वर्गवास हो गया। डाक्टर थे। सारी जिंदगी सेवा की थी। बहुत सेवा की है, (बता रहे थे)। कुछ तो ऐसे मरीज थे कि जिन्हें खाना-पीना कुछ भी नहीं था जिनके पास। उसको सिर्फ दवाई नहीं दी है, उसे खाना भी दिया है, Fruit भी दिया है, दूध भी पिलाया है। खुद ब्राह्मिन थे। एक तो मुसलमान लड़का था। उसकी माँ विधवा थी। उसे क्षय हो गया था। जवान लड़का था। उसे अपने घर रखा और उसकी माँ को कह दिया कि, आप खुशी से अपने घर जाईये। बाहरगाँव-छोटे गाँव से आये थे, कह दिया कि आप घर जाईए। यह लड़का मेरे घर रहेगा। उसे मैं बिलकुल ठीक कर दूँगा आप घबराना मत। इसतरह इतनी हद तक सारी जिंदगी मैंने सेवा की है। मेरी प्रकृति में ही यह बात शुरू से थी। सज्जन आदमी थे। सज्जनता की यह बात भी अच्छी लगे। लेकिन इसके साथ-साथ दूसरी एक अपेक्षा पनपने लगी थी इसका पता नहीं था। इसलिये साथ में ही आक्रोश व्यक्त किया कि मैंने इतनी-इतनी सेवा की तो भी मेरी जरूरत के समय किसीने मेरे सामने

देखा तक नहीं। इसका इतना तीव्र आक्रोश व द्वेष दिखता था। क्योंकि अपेक्षा बढ़ते-बढ़ते गाढ़ हो गई थी। अब अगर वैसा पुण्ययोग नहीं हो तो बाहर में किसीको इनके प्रति अनुकूल होनेका विकल्प नहीं भी आये। ऐसे वक्त जीव को तीव्र द्वेष आ जाता है कि, मैं इतनी सेवा करनेवाला, मेरी जरूरत के समय किसीने मुझे साथ नहीं दिया ! यह दुनिया ही स्वार्थ की है। उसे ऐसे वक्त तीव्र दुःख लगता है। इसप्रकार खुद को अपेक्षाभाव बढ़ने लगे ऐसा स्वतः हो जाता है। क्योंकि उसने दूसरे को जैसे सुखी माना है तो उसने अपने सुख का कारण भी उसीको मान रखा है।

जिसने संयोगकी दृष्टि से दूसरे को सुखी माना है उसने पहले से ही संयोग से मैं सुखी ऐसा माना है। फिर भले ही वह वर्तमान में संयोगों का त्याग करके दूसरे को इसकी उपलब्धि द्वारा सुखी करना चाहता हो, तो भी उसके अभिप्राय में वह बात कायम है। ऐसा हुए बिना रहता नहीं। क्योंकि यह विषय उसकी समझ में आया ही नहीं कि, मैं परपदार्थ रहित ज्ञानमय आत्मा हूँ। परपदार्थ का मेरे में अस्तित्व नहीं है। कभी (नहीं है)। वर्तमान में और तीनों काल मेरे में अस्तित्व नहीं है। जिसमें मेरा अस्तित्व नहीं है उसमें मैंने किसी भी प्रकार से लगाव किया तो इसका फल निश्चितरूप से दुःख ही है। इसविषय को सुखी होने की बुद्धि-अभिप्राय से समझने जैसा है। निराकुल आत्मिक शांति की प्राप्ति के दृष्टिकोण से इस विषय को समझने जैसा है। किसी दूसरे के लिये नहीं परन्तु अपने लिये...

मुमुक्षु :- निराकुल सुख के लिये...

पूज्य भाईश्री :- निराकुलस्वरूप आत्मा है। आत्मा में आत्मत्व करना। अन्य वस्तु में आत्मत्व करने से स्व को चूक जाना यह बात योग्य तो नहीं है, यथार्थ तो नहीं है। सीधी बात है। वैसा ही यहाँ राग से धर्म मानने में है। किसी न किसी राग द्वारा तू धर्म मानने को राजी हो। परन्तु जो तेरे में है नहीं, जिस चीज का तेरे में अभाव है, जो तत्त्व तेरे में नहीं, वह भाव तेरा मूल स्वरूप नहीं है उस भाव से तेरा धर्म हो यह बात कहाँ से सम्भव है ? यह बात तेरे अपने स्वरूप के अज्ञानमें से आयी है। समझपूर्वक तो यह बात हो

नहीं सकती।

यहाँ तो केवल विचार नहीं करके अनुभव करके देख लो कि, वर्तमान संयोग को देखते वक्त आप स्व को चूकते हो और इसीलिये दुःखी होते हो। अब दुःख के अनुभवकाल में आपको स्वरूप की सावधानी वर्तती है या संयोग की सावधानी वर्तती है? अगर संयोग की सावधानी मालूम पड़े और खुद की सावधानी का अभाव पता चले तो ऐसा कहनेवाला सही है। जो सुख-दुःख के विषय में सही बात करते हैं, वे जिसमें सुख-दुःख का प्रयोजन नहीं हो ऐसे सभी विषय में कहीं भी झूठ बोलने का उन्हें कोई कारण नहीं रहता। वे सब बात सत्य ही करेंगे। लोग इसतरह परीक्षा करते हैं कि उनको पैसे देने का व नुकसान का कारण था तो भी वह झूठ नहीं बोला फिर जहाँ उसको कोई लेना देना नहीं हो। ऐसी बात में वह क्यों झूठ बोलेगा? अतः वह झूठ बोलता है यह बात अब संभव नहीं है।

मुमुक्षु :- 'श्रीमद्जी' ९५ वर्ष पूर्व कह गये हैं, ज्ञानी की सब बातों को सम्मत करना।

पूज्य भाईश्री :- सम्मत करना। वह तो एकदम रहस्यमय विषय लिया है। रहस्य शब्द का प्रयोग है।

कल थोड़ी चर्चा चली थी। मिथ्यादृष्टि से लेकर मुनिदशा में छोटे गुणस्थान योग्य बुद्धिपूर्वक का राग और विकल्प चलता है। और वहाँतक के बाह्याचरण में... विकल्प तो बाह्याचरण के साथ संबंध रखता है न? तो विवेक करने योग्य है कि, मेरे हित का कारण क्या हो सकता है? और मेरे अहित का कारण क्या हो सकता है?

एक जगह 'गुरुदेवश्री' ने लिखा है कि, जिसको निमित्त का विवेक नहीं है उसको उपादान का विवेक वर्तता है यह बात विचार करने जैसी भी नहीं है। ऐसा लिखा है। अरे..! आप 'सोनगढ़'वाले तो निमित्त को मानते नहीं है न? उसको यह उत्तर है कि, देख हम निमित्त को भी कहाँ तक मानते हैं! ठीक! ऐसी बात ली है। ८०० के करीब है। ८०० से ९०० के बीच (एक वचनामृत) आता है।

निमित्त का विवेक ही आत्मा का विवेक है—ऐसा कहा है वहाँ पर। ८३१, पन्ना-१६५ 'अपनी चमड़ी

उतारकर (गुरु-हेतु) जूते बनाएँ...' जीते जी चमड़ी उतारने की बात है हैं! मरने के पश्चात् नहीं। जीते जी चमड़ी उतारकर जूते बनाएँ, ज्ञानी के पैर धूप में जलते हो तब, तो भी उनके उपकारका बदला नहीं किया जा सकता है। ये 'गुरुदेवश्री' (कानजीस्वामी) के शब्द हैं। क्या कहते हैं? ज्ञानी के पैर जलते हो धूप में और उनके लिये चंपल-जूते की जरूरत हो तब जीते जी अपनी चमड़ी उतार दे ऐसा कहते हैं तो भी उनका प्रतिउपकार सम्भव नहीं है।

'ऐसा गुरु आदि का उपकार होता है। इसके बजाय उनके उपकार का गोपन करता है...' इनके विरुद्ध जाता है। 'वह तो अनन्त संसारी है।' अरे..! 'किससे सुने-समझे?—इसका ही जिन्हें विवेक नहीं है...' ऐसा कहते हैं। 'वे तो आत्मा को समझने के योग्य ही नहीं—' ऐसी बात की है। क्योंकि उसमें निमित्त का विवेक नहीं हुआ। वास्तवमें शब्द में तो ८२७ में है। १६४ पन्ने पर है न?

शुरू से ले। 'अपने ज्ञान में विवेक प्रकट हुआ होने से अर्हतादिको स्मरणपूर्वक नमस्कार करते हैं...' कौन? साधकजीव। 'अपने ज्ञानमें विवेक प्रकट हुआ होने से...' बाह्याचरण का विषय चल रहा है। 'अर्हतादिको स्मरणपूर्वक नमस्कार करते हैं, वे ही प्रिय और अपने हैं।' कौन? अरिहंत भगवान जीव के सच्चे संबंधी हैं। ये समधी होते हैं लौकिक में वे सच्चे रिश्तेदार नहीं हैं ऐसा कहते हैं।

'जैसे विवाह-प्रसंग में स्नेही सम्बन्धियों को निमंत्रण देते हैं। वैसे ही धर्मार्थ हेतु इष्ट ऐसे सिद्धों, अर्हंतों, जिनबिंबो आदिको स्मरण कर नमस्कार करते हैं।' दीक्षा के प्रसंग में मुनिराज अरिहंतों व सिद्धों को याद करते हैं। हे सिद्धों! हे अरिहंतों! मेरे दीक्षा के प्रसंग में पधारिये। जैसे विवाह में कोई कन्या को लेने जाता है, शादी करने जाता है वैसे मैं अब मुक्तिसुंदरी के पास विवाह रचाने चला हूँ। आप पधारिये इस अवसर पर। ऊपर सिद्धों को निमंत्रित करते हैं। सिद्धालय से नीचे पधारिये। अब मेरा सिद्धालय में आनेका प्रसंग है। 'उनके उपकार नहीं भूले जाते। कितने ही जीव सनातन दिगम्बर-परम्परा के

शास्त्रवांचन करके भी कुदेवादि के नाम से प्ररूपणा करते हैं।' उसमें भी घूसा दिये। अन्य देव-देवियों को धर्म के स्थान में स्थापित कर दिये। ऐसी परम्परा को तोड़ दी है इसलिये अनंत संसारी हैं।

अब सिद्धांत की बात ली है कि, 'जिन्हें सच्चे निमित्त के प्रति ही बहुमान नहीं आता, उन्हें आत्मा का बहुमान तो आ ही नहीं सकता। निमित्त का विवेक तो वास्तव में आत्मा का विवेक है।' ऐसा लिखा है। ये निमित्त को ऐसा मानते हैं। (लोग) कहते हैं कि आप (कानजीस्वामी) निमित्त को मानते नहीं हैं। परन्तु आपको पता नहीं है कि, हम निमित्त को किस तरह मानते हैं। 'निमित्त का विवेक ही वास्तव में आत्मा का विवेक है।' यह तो चार साल पहले संकलन किया है। तीन-चार साल हो गये।

'जिन्हें स्वरूपदृष्टि हुयी है उन्हें निमित्त के प्रति विनय हुए बिना नहीं रहता। जो लोग निश्चय के नाम से भूले हुए हैं।' स्पष्ट कहते हैं। हम निश्चयप्रधान बात करते हैं परन्तु उस बहाने भी लोग भूलावे में पड़ते हैं और व्यवहार को नहीं समझते। फिर तो व्यवहार में भी चूकते हैं। 'वे निश्चय-व्यवहार दोनों को ही भूले हैं।' अब कहीये व्यवहार को नहीं मानते हैं क्या? कि, ऐसे व्यवहार को मानते हैं। वे निश्चय-व्यवहार दोनों में धोखा खाते हैं, जिसको परिपूर्ण निर्दोष होना है उसे तीव्र दोष होवे और पता नहीं चले ऐसा कैसे हो सकता है? तो तुझे निर्दोष होना नहीं है। तुझे निर्दोष होना ही नहीं है। तेरा हेतु अंदर में बदल गया है। वरना हेतु की मुख्यतापूर्वक सावधानी से चलनेवाले को विवेक आये बिना रहता नहीं। ये निमित्त और व्यवहार का विषय ८२७ में ज्यादा बेहतररूपसे आया है।

मुमुक्षु :- उपकार का बदला कैसे चुकाया जाये ?

पूज्य भाईश्री :- बदला चूका ही नहीं सकते। चूकानेका प्रश्न ही नहीं है। वह ऐसा अनंत उपकार है कि इसके उपकार का अगर प्रतिउपकार सम्भव हो तो इसकी अनन्तता को कहना मिथ्या है। फिर तो अंत आ गया।

एक बार खादी ली और दस रुपया दिया तो

वह तो आमने-सामने बराबर हो गया। न तो दस रुपया देनेवाले ने उपकार किया है न तो खादी बेचनेवालेने कोई उपकार किया है। ठीक है? परन्तु यहाँ तो उपकार किया है मतलब कि इस उपकार का प्रतिउपकार नहीं किया जा सकता है। किसी जीव को मृत्यु से बचाये, केन्सर मिटाये, डूबते हुए को बचाये, जलने से बचाये। अरे..! रेगिस्तान में पानी की प्यास के कारण मर रहा हो उसे कोई पानी का घड़ा, सक्कर का ठण्डा पानी का घड़ा दे दें, तो उसे भगवान तूल्य देखेगा। ये तो मेरा भगवान ऊपर से आया। वरना मैं बचता नहीं ऐसा कहते हैं। अब कैसे इसका बदला चूकाना? कि ऐसे उपकार का बदला कैसे चूकाये? इसकी कोई Terminology है क्या? कि, जिसके बदले में कुछ दे दें। यह अशक्य है। अब यहाँ तो अनन्त जन्म-मरण से बचा दे ऐसा विज्ञान है। इसकी रीत, इसकी विधि, वह मार्ग पर अंगूली निर्देश करनेका जिनका विकल्पमात्र है। कर देते नहीं है उनका विकल्पमात्र है कि, भाई! तू इसप्रकार सुखी होगा। हम इसप्रकार सुखी हुए हैं और हमारा भवभ्रमण मिट जाने की बात guaranteed है। तुझे भी ऐसा करने पर मिट जायेगा। बस! ऐसी उनकी निस्पृह्यतरूप निष्कारण करुणा है। यह गुरु आदि का उपकार है। इसका कोई प्रत्युपकार हो सके ऐसी जगत में कोई चीज है नहीं।

क्या कहते हैं यहाँ पर? कि, यह तो अनुभव से नक्की करने जैसा विषय है कि, जब स्वयं दुःखी हो रहा हो तब संयोग के लगाव में दुःखी हो रहा हूँ? यह जाँच कर लेना। इतना ही नहीं। संयोग के लगाव में आप अपने आप को पूरापूरा विस्मृत कर जाते हो कि मैं एक ज्ञानमय आत्मा व जीव हूँ। यह भूल जाता है। मैं ऐसी कर्मजनित अवस्थावान। यह कायम रखकर ये संयोग मेरे हैं और इसमें नुकसान होता है इसका मुझे दुःख होता है। इसतरह जो स्व को चूकता है इसलिये दुःखी होता है। क्योंकि स्व में आनंद है और सुख है। इस आनंद को व सुख को चूक जाता है इसलिये आनंद व सुख से वंचित रह जाता है। फिर होता क्या है? कि, दुःख होता है। ऐसा संभव नहीं है कि, सुख भी न हो व दुःख भी

न हो। जगत में तीसरी कोई अवस्था नहीं है। या तो सुख होगा या तो दुःख होगा। यहाँ पर कल्पित सुख को भी दुःख बताया जाता है।

मुमुक्षु :- निमित्त के विवेक में आत्मा का विवेक ?

पूज्य भाईश्री :- ऐसा है। गंभीर बात है। यह open secret नहीं है, रहस्य है इसमें। यह भाई पूछते हैं कि निमित्त के विवेक में आत्मा का विवेक है ऐसी बात क्यों करते हैं? निमित्त के विवेक में निमित्त का विवेक है। इसमें आत्मा का क्यों? बात निमित्त की करते हो और लगाते हो उपादान पर। यही तो पूज्य 'गुरुदेवश्री' की विशेषता है। ज्ञेय की बात करते और ज्ञान को प्रसिद्ध करे। ज्ञेय प्रधानतावाले ज्ञान के दो बोल तो आ चूके। वैसी ही यहाँ पर बात है। वहाँ वे आत्मत्व देखते हैं। निमित्त में, गुरु आदि में आत्मा कैसा है -यह देखते हैं।

'सोगानीजी' ने लिखा है कि ये जो प्रवचन करते हैं उनको मैं गुरु नहीं मानता। ठीक ! प्रवचन की क्रिया को मैं गुरु नहीं मानता। ६४५ में आता है। यह शरीर जो है छः फिट का उन्हें मैं गुरु नहीं मानता। ऐसा लिया है। अंदर में जो ज्ञानघन आत्मा है उसे मैं देखता हूँ। वे महान है। उनमें मैं गुरुत्व को देखता हूँ। आत्मा को देखता हूँ। इसलिये उसमें आत्मा का विवेक है। गुरुआदिक में जो बहुमान का विवेक है उसमें आत्मा को देखते हैं और उन्हें प्रगट आत्मा देखते हैं। अप्रगट नहीं अपितु प्रगट आत्मा देखते हैं। अप्रगट आत्मा तो सर्व जीव में है। सर्व जीव हैं सिद्धसम। परन्तु उनमें प्रगट देखते हैं। और प्रगट देखते हैं मतलब उनका आराधन देखते हैं। ऐसी बात है। तब जीव को बहुमान आये बिना रहता नहीं है।

जिसको गुण प्रगट करने हैं उसको जिन्हें गुण प्रगट हैं उन पर बहुमान आये बिना रहता नहीं। वरना उसे गुण प्रगट करने हैं यह बात ही नहीं रहती। ऐसा है। सीधी बात है। अतः उसमें आत्मा का बहुमान है या आत्मा का विवेक इसलिये है क्योंकि उसको आत्मिक गुण प्रगट करने हैं। इसलिये यहाँ निमित्त का विवेक आता है। ऐसी बात है। निमित्त से एकदम भिन्नता का प्रतिपादन करनेवाले ने यह बात की है। द्रव्य से, क्षेत्र

से, काल से और भाव से निमित्तादि परपदार्थ सर्वथा भिन्न हैं और अकिंचितकर हैं ऐसा कहनेवाले यह बात करते हैं।

मुमुक्षु :- इसीलिये तो आश्चर्य हुआ।

पूज्य भाईश्री :- इसके पीछे उनकी समझ क्या है? इस विषय का परिज्ञान किस तरह कार्य करता है कि, जिससे ऐसा वचन व्यवहार चलता है, इसकी गहराई और इसके रहस्य को समझना होगा।

मुमुक्षु :- इसमें क्या गहराई है?

पूज्य भाईश्री :- इसमें गुण की Deepness है। गुण लेना है सारांश के रूप में। गुण को देखते हैं। गुणधाम को देखते हैं। गुण प्रगट हुए उसे देखते हैं। जिससे स्वयं को गुण प्रगट होने का विशेष अवकाश होता है। सानुकूलता होती है। ऐसा भी इसमें देखा जाता है।

मुमुक्षु :- निमित्त के विशेष प्रकार के विवेक में तो निमित्ताधीन दृष्टि हो जाने की संभावना है।

पूज्य भाईश्री :- नहीं। निमित्ताधीन दृष्टि नहीं होगी। इसलिये तो प्रतिपक्ष बताया। प्रतिपक्ष में Entry क्यों डाली? कि, तदन भिन्नता, निमित्त की बिलकुल भिन्नता और अकिंचितकर जिसे जोर-शोर से स्थापित करते हैं। लोग तो ऐसा समझ बैठे हैं कि, वे (कानजीस्वामी) निमित्त को उड़ाते हैं और निमित्त को मानते ही नहीं। उन्होंने इतने जोर से स्थापित किया है कि, लोगों को अफवाह उड़ाने का साधन मिल गया कि, ये तो निमित्त को उड़ाते हैं और निमित्त को नहीं मानते। वही (महापुरुष) यहाँ कहते हैं कि, जिसे निमित्त का विवेक नहीं है उसे आत्मा का विवेक नहीं है। ऐसी बात है।

मुमुक्षु :- इसके प्रतिपक्षभूत ऐसी बात आती है कि अभी आप ऐसा कहते हो इसलिये आपकी निमित्ताधीन दृष्टि है।

पूज्य भाईश्री :- लेकिन यह बात कहाँ वर्तमान की है। यह बात कोई वर्तमान में नई तो नहीं की। इसीलिये तो पहले साल बता दी कि, यह तो तीन-चार साल पहले संकलन हो चूका है। कोई इन दिनों में तो संकलन नहीं किया है। किसमें से है? 'मोक्षमार्ग

प्रकाशक' प्रथम अधिकार के प्रवचनमें से है। 'टोडरमलजी' के वचन पर व्याख्यान चले हैं। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के प्रथम अधिकार के प्रवचन कब लिखे होंगे यह तो नक्की कीजिये। कितने सालों से तो ये छः अधिकार पर प्रवचन चले नहीं है। सीधा सातवें अधिकार पर ही प्रवचन चलते हैं। क्योंकि अन्यमतियों का क्या निषेध करना? जैनमतियों की भूल है यह बात की है सातवें अधिकारमें। पीछले दस-पंद्रह साल से तो सातवें अधिकार का ही विषय चला है। प्रथम अधिकार पर हुए प्रवचन तो मैंने नहीं सुने। बीस-पच्चीस साल पहले हुए होंगे। यह तीस साल पहले लिखी गई बात है। इसलिये तो Reference दिया है कि इसमें से लिया... यह इसमें से लिया है... इसमें से लिया है... वरना तो कोई आक्षेप कर दे कि, अपने अभिप्राय अनुसार अपने घर की बात डाल दी होगी। ऐसा नहीं है। ८३९ है न? पन्ना का नंबर भी डाला है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' प्रथम अधिकार और आत्मधर्म में ये व्याख्यान छपे हैं। 'आत्मधर्म' के क्रमांक नंबर और पन्ने का नंबर दोनों लिखे हैं। ३३८,

३४०, ३४२, ३४४, ३४६ ये सारे 'आत्मधर्म' के अंक हैं। इसमें यह बात चली है। ३३८ वाँ अंक तो कब प्रकाशित हुआ होगा? बारह अंक में एक साल जाता है। फिलहाल ४८९, ४९० कौन-सा चलता है?

मुमुक्षु :- पोने दोसो अंक पहले...

पूज्य भाईश्री :- इतने साल पीछे जायें तो १२ x ८ = ९६। करीब १०० अंक में आठ साल निकल जाये। २०० अंक में सोलह साल अभी से कम कर दो। कहाँ से आया? जो उनके द्वारा प्ररूपित विषय है वह तो एक-सा धारावाहीरूप से आया है। ३० साल पहले का प्रवचन ले लो, चाहे आज का व्याख्यान सुनो। सिद्धांतिकरूप से कोई फर्क नहीं आता है। एक ही सिद्धांत.. बादमें ज्यों-ज्यों ज्ञान विशेष-विशेष खुलता जाता है, निर्मलता बढ़ती जाती है तो विशेष-विशेष पहलू की स्पष्टता होती जाती है, विशेषरूप से समझाते हैं जरूर किन्तु मूल सिद्धांत तो धारावाहीरूप से निरूपित हुआ है। यहाँ तक रखते हैं।

### नवीन प्रकाशन

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन के जन्म शताब्दी महोत्सव प्रसंग पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा हुए 'बहिनश्री के वचनामृत' पर धारावाही प्रवचन 'अध्यात्म सुधा' भाग-६ (गुजराती) तथा 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ पर हुए धारावाही प्रवचनों का पुस्तक 'राजहृदय' भाग-७ (गुजराती) प्रकाशित किये हैं। जिन मुमुक्षुभाइओं को स्वाध्यायार्थ मंगवाने हो वे ट्रस्ट के कार्यालय पर संपर्क कर मंगवा सकते हैं।

'राजहृदय' भाग- ८ और ९

'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ पर हुए पूज्य भाईश्री शशीभाई के धारावाही प्रवचनों का पुस्तक 'राजहृदय' भाग-८-९ (गुजराती) जल्द ही प्रकाशित करने की भावना है।

स्थल :- श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४००१

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (सितम्बर-२०१३) का शुल्क श्रीमति ताराबहन गुलाबचंद शाह, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनमृत

पर विषयमें सुखका अनुभव होना वह कल्पित है, झूठ है । वहाँ वास्तवमें सुख अथवा आनंद नहीं होता, फिर भी आभास होता है । उसमें झूठा आनंद माना जाता है । यह सिद्धांत किसी भी कक्षाके कषायकी मंदतावाले परिणामको भी लागू होता है। निजहितके प्रयोजनके दृष्टिकोणवाले जीवको झूठे - कृत्रिम आनंदमें खुद धोखेमें नहीं आ जाये उसकी सतत जागृति - सावधानी प्रसंग-प्रसंग पर, कार्य-कार्यमें रहनी जरूरी है क्योंकि उसमें आध्यात्मिक नुकसान है। (१२३)



सम्यक्ज्ञान महाविवेकको धारण करके, स्व-पर प्रकाशक परिणमनमें, स्वविषयमें और परविषयमें निम्न प्रकारसे परिणमन करता है :-

\* स्वरूपको अभेद अनुभवरूप, महामहिमावंत जानकर सर्वोत्कृष्ट उपादेयरूप - चैतन्यरसरूप स्व-आश्रयभावसे सहज परिणमन करता है।

\* परपदार्थ व राग ज्ञानमें प्रतिबिंबित होने पर, भिन्नरूप, उपेक्षाभावसे, निर्मूल्य व नीरस परिणामसे सहज जाननेमें आते हैं - (वैसे) परिणमन करता है । अतः वह परसे निवृत्त होता हुआ विज्ञानघन होता जाता है - यह सम्यक्ज्ञानका स्वरूप है। (१२४)



द्रव्यानुयोग आत्माके 'एकत्व-विभक्त' स्वरूपको दिखाता है। अभेद स्वभावका लक्ष्य करनेका परम गंभीर विषय द्रव्यानुयोगमें है। निश्चय अध्यात्मके उपदेशकी प्रधानतासे दया - दानादि परिणामोंका उसमें निषेध आता है, उसमें स्वभाव दृष्टि करनेका हेतु है। स्वभावकी अभेदताको साधनेके हेतुसे द्रव्यानुयोग अनुसार गुण-पर्यायके भेदोंका निरूपण है । (जो कि व्यवहारनयके विषयभूत समस्त सिद्धांत हैं) उस भेदको निरस्त करनेकी शैलीसे अध्यात्मकी प्रधानता कराई है, (जिससे) अभेदता सधती है। यथार्थतामें ऐसी दृष्टिकी प्रधानताके बारेमें संशय या अनादर भाव नहीं होता, बल्कि विशेष आदर - महिमाके भाव होते हैं। इसके बावजूद द्रव्य, गुण, पर्यायका भेदरूप निरूपण, जो कि आगम अनुसार है, वह भी उनके ज्ञानमें सप्रमाण रहता है। जरा सी भी अन्यथा कल्पना नहीं होती। ऐसा संतुलन रहना वह इस विषयकी गंभीरता है। अर्थात् सम्यक् एकांत व अनेकांत है।

(१) इस विषयमें अयथार्थता उत्पन्न होती है तब किसीको द्रव्य, गुण पर्यायके भेद निरूपक सिद्धांतोंकी मुख्यताका एकांत वर्तता है। जो फिर अभेदता साधक वचनोंके प्रति गौणता अथवा अनादर उत्पन्न कराता है। वहाँ भेदका जानपना मुख्य करके अध्यात्म दृष्टिकी गौणता होती है। जो कि यथार्थ नहीं है।

(२) जब कि कोई तो अध्यात्म प्रधान (ज्ञानी - आचार्योंके) विधानोंकी मुख्यता करते हैं, उसमें निहित आशयकी गंभीरताको ग्रहण नहीं करके (क्योंकि अध्यात्म तत्त्व ज्ञानमें भासित नहीं हुआ है।) अभेदता साधनेके प्रयोजन एवं पुरुषार्थको प्राप्त नहीं करते हैं, बल्कि कल्पनासे द्रव्यका-पदार्थका स्वरूप अन्यथा ग्रहण करते हैं जिसके कारण गृहीत मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है । वे सिर्फ अध्यात्म कथनकी शैलीके रागमें रत रहते हैं, लेकिन (वे) अध्यात्मभावमें परिणमन नहीं करते, जो कि यथार्थ

नहीं है।

कथनशैलीका राग मुख्य होने पर पुद्गलरस, विकल्पका रस बढ़ता है। उसमें अध्यात्मरस नहीं है। परन्तु अयथार्थता, अध्यात्मरस होनेकी भ्रांति होती है। उसमें द्रव्यानुयोगके सिद्धांत ज्ञानसे विरुद्ध मान्यता दृढ़ हो जाती है, फिर भी खुद अध्यात्मवादी है ऐसा मानता है। सिद्धांतज्ञान व अध्यात्मके भाव - ज्ञानके बीचमें संतुलन व अनेकांतिक वृत्तिका यथार्थरूपसे झुकाव रहना, वही इस मार्गकी सूक्ष्मता है। (१२५)



परिपूर्ण निर्दोषता (मोक्ष) का जिसको ध्येय है; वैसे सच्चे आत्मार्थीको सिर्फ निर्दोषताका प्रयोजन होनेसे, सारा परिणमन इस प्रयोजनके लक्ष्यपूर्वक चलता है। अतः प्रयोजन विरुद्ध किसी भी प्रकारकी अयथार्थता नहीं होती। समझनेमें (भी) सभी न्याय निर्दोषताके प्रयोजनके लक्ष्यसे समझनेकी पद्धति होनेसे वह ज्ञान आगे बढ़कर सम्यक्ज्ञानमें परिणमित होता है। तात्पर्य यह है कि समझ करनेके पीछे एकमात्र निर्दोषताका दृष्टिकोण होना चाहिये, वरना मात्र उघाड- क्षयोपशमज्ञानकी वृद्धि हेतु वांचन - श्रवणकी प्रवृत्ति होगी। उसमें साथमें अयथार्थताकी उत्पत्ति हो जाती है। इसलिये सिर्फ शास्त्रज्ञानके उघाडके पीछे व्यामोहको प्राप्त होना उचित नहीं है - परन्तु शास्त्रज्ञानके पारमार्थिक दृष्टिकोणको समझकर मूल्यांकन करने योग्य है। (१२६)



ज्ञानपनारूप ज्ञान जानने के कार्यमें हमेशा प्रवर्तता है। परन्तु ज्ञानके अनुसार अगर प्रतीति साथमें हो तो आचरण पैदा होता है; ज्ञानको अगर प्रतीतिका साथ नहीं मिले तो, अर्थात् अगर समझसे प्रतीति विरुद्ध वर्तती रहे तो समझ कार्यगत् नहीं होती। स्वभावके अंतर अभ्यासमें, सहजरूपसे प्रगट ज्ञानवेदन द्वारा स्वभावके प्रत्यक्षपनेकी-प्रतीतिके बलसे वारंवार उग्रता होनेसे 'मैं ऐसा ही (ज्ञानमात्र) हूँ' -स्वसंवेदनका आविर्भाव होता है। इस प्रकारसे (मोक्षमार्गमें) श्रद्धा-ज्ञानकी मैत्री है। (१२७)



ज्ञानीको द्रव्यदृष्टिके कारण, सर्व जीव सिद्ध स्वरूपी दिखाई देते हैं। वे भले ही अज्ञान व पर्यायदृष्टिके कारण खुदको कैसे भी मानते हो, परन्तु ज्ञानी तो उन्हें सिद्ध स्वरूप ही देखते हैं। इसलिये शिरच्छेद करनेवाला अर्थात् तीव्र विरोध करनेवालेके प्रति भी ज्ञानीको व्यक्तिगत द्वेष नहीं होता, परन्तु (सिर्फ) उसकी विकारी दोषितवृत्तिका निषेध आता है। फिर भी द्रव्यकी मुख्यता छूटकर निषेध नहीं आता (द्वेष मुख्य नहीं होता) बल्कि द्रव्यकी मुख्यता सहित निषेध (दोष भावका) करुणाबुद्धिके कारण आता है- ऐसे अंतरंग परिणामोंको ज्ञानी ही समझते हैं, दूसरे नहीं समझ सकते। (१२८)



त्रिकाली निज स्वभाव, जैसा सर्वज्ञ भगवानके केवलज्ञानमें आता है, ऐसे स्वरूपका भान होना- रहना वह प्रगट सम्यक्दशा है; जो कि अपूर्व निज चैतन्यरसके निर्विकल्प वेदन स्वरूप है। ऐसा भान शुद्धोपयोगपूर्वक उत्पन्न होता है। (१२९)



ज्ञानमयरूपसे निज अस्तित्वका सहज वेदन, वह (परसे) भेदज्ञान है, और (स्वसे) अभेदज्ञान है-अथवा आत्मज्ञान है। जो कि भवभ्रमणके रोगका परम (अमोघ) औषध है। (१३०)





**द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से आत्मा कैसे प्राप्त हो उस विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनामृत**

प्रश्न :- वस्तु पकड़ने में नहीं आती, तो कहाँ अटकाव हो जाता है ? क्या महिमा नहीं आती है ?

उत्तर :- एक समय के परिणाम में अपनापन रहता है - बस ! यही भूल है। महिमा तो आती है, किन्तु ऊपर-ऊपर से। यदि वास्तविक महिमा आजाए तब तो छोड़े ही नहीं। वस्तु का आश्रय (आधार) पकड़ना चाहिए, उसे नहीं पकड़ता है। २२७.



जैसे भूंगली को पकड़े हुए शुक को ऐसा लगता है कि 'मैं उलटा हूँ, यदि सुलटा होता तो फौरन उड़ जाता'; ऐसे अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'मैं विकारी हूँ, इसलिए आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकूँ?' अरे भाई! सुलटे-उलटे की बात ही नहीं है; परिणाम से छूटा तो ध्रुवपर ही आएगा। (-पर्यायबुद्धि छुटनेपर आत्मा में ही आत्मबुद्धि होगी)। भूंगली को शुक छोड़ता...तो उड़ ही जाता, क्योंकि उड़ना उसका स्वभाव है।-ऐसे परिणाम से खिसके तो त्रिकालीदल में ही आएगा। २२९



वस्तु साक्षात् मौजूद पड़ी है, मात्र कल्पना नहीं करना लेकिन उस रूप हो जाना-तन्मय होकर असंख्य प्रदेश में व्याप्त हो जाना। जब वस्तु साक्षात् है तो फिर मात्र कल्पना क्यों करना? - उस रूप परिणाम जाना ! (स्वरूप के प्रत्यक्ष अनुभव काल में 'आत्मप्रत्यक्षता' के अवलंबन से उत्पन्न पुरुषार्थ का यह प्रकट चितार है।) २३२.



'मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ'- इसकी तो पूरी मुख्यता होनी चाहिए; और दीनताका (परावलम्बीपनेका) पूरा-पूरा दुःख मालूम होना चाहिये। २३६.



सुननेके कालमें भी 'मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ' - यहाँसे शुरू करना चाहिए, फिर सुननेका भाव आएगा किन्तु उसकी मुख्यता नहीं होगी। २४१.



सिर्फ बैठक ही बदलना है। परिणामपर बैठे हो तो वहाँसे उठकर अपरिणामीपर बैठ जाओ...बस, इतनी-सी बात है। २४८.



(मात्र) विचार करनेसे वस्तुका पत्ता नहीं लगता (आत्माका अनुभव नहीं होता) वस्तु तो प्रत्यक्ष मौजूद है, बस ! इसीमें प्रसरकर बैठ जाना, बिराजमान हो जाना। २५४.



प्रश्न :- परिणाममेंसे एकत्व छोड़ देना, यही आपका कहना है ?

उत्तर :- बस...यही कहना है। परिणाममेंसे एकत्व छोड़ दो ! लेकिन यह एकत्व छूटे कैसे ? नित्य स्वभावमें एकत्व करे तब। निश्चय नित्य स्वभावमें दृष्टि जमाकर, परिणाम मात्रसे एकत्व उठा लेना २५६.

२६९

ववाणिया, भाद्रपद वदी ३, सोम, १९४७

‘ईश्वरेच्छा होगी तो प्रवृत्ति होगी; और उसे सुखदायक मान लेंगे; परन्तु मनमाने सत्संगके बिना कालक्षेप होना दुष्कर है। मोक्षकी अपेक्षा हमें संतकी चरणसमीपता बहुत प्रिय है; परन्तु उस हरिकी इच्छा के आगे हम दीन हैं। पुनः पुनः आपकी (सौभाग्यभाईकी) स्मृति होती है।’

कृपालुदेव को बाह्य प्रवृत्ति की चिंता नहीं है, इस वचनामृत का आशय है कि जिस काल में जो कुछ भी बाह्यप्रवृत्ति जिस क्षेत्र में जिस अन्य संयोगों के बीच होनेवाली होगी वह होगी, इसकी चिंता व्यर्थ है, और उसकी (प्रवृत्ति की) चिंता करने से एकांत नुकसान ही अथवा आकुलता ही है; अतः जो कुछ भी प्रवृत्ति होगी वह कुदरत के नियमानुसार होगी, ऐसा समाधान से सुखदायक मान लेंगे। तत्संबंधित कोई पूर्वगृहीत अपेक्षा नहीं है, तथापि वर्तमान में मनवांछित सत्संग नहीं है इसका दुःख अवश्य है। सत्संग बिना समय व्यतीत होना दुष्कर है। यद्यपि मुमुक्षु को तो मोक्ष सर्वाधिक प्रिय होता है, फिर भी वह मोक्ष संतचरणकी समीपताके बिना प्राप्त होना असंभवित है; अतः मोक्षेच्छु को सर्वप्रथम सत्संग की आराधना कर्तव्य है—इस अनुपम सिद्धांत का यहाँ पर दर्शन होता है। वे स्यवं भी सत्संग के वियोग में कुदरत के उक्त नियम के अधीन रहकर समाधान कर रहे हैं। साथ ही साथ सत्संग योग्य श्री सौभाग्यभाई का स्मरण अनिवार्यरूप से हो आता है, वह सत्संग के चित् प्रेम/महिमा की वृत्ति का द्योतक है।



२७७

ववाणिया, भादों वदी ७, १९४७

‘चित्त उदास रहता है, कुछ अच्छा नहीं लगता; और जो कुछ अच्छा नहीं लगता वही सब दिखयी देता है, वही सुनायी देता है। तो अब क्या करे? मन किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं कर सकता। जिससे प्रत्येक कार्य स्थगित करना पड़ता है। कुछ पढ़ने, लिखने या जनपरिचय में रुचि नहीं होती। प्रचलित मत के प्रकार की बात सुनायी पड़ती है कि हृदय में मृत्यु से अधिक वेदना होती है।’

अध्यात्मपरिणति की विशेषता के कारण बाहर में चित्त की उदासीनता रहती है, कुछ सुहाता नहीं। इस हीनकाल में बाह्य परिस्थिति भी अंतरदशा को जरा भी सुसंगततावाली नहीं है, अर्थात् जो कुछ नहीं सुहाता है वही सब नजर में आता है और सुनने में आता है। परिणामतः मन कहीं भी नहीं लगने से किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं की जा सकती है। उय में आ पड़े कार्योको भी प्रायः स्थगित करना पड़ता है। तथा वांचन, लेखन, या लोकपरिचय में बिलकुल भी रुचि नहीं होती। वर्तमान में जैनशासन के नाम से चल रहे संप्रदाय की परिस्थिति सम्बन्धित बात सुनने पर अंतर में मृत्यु से अधिक आघात लगता है क्योंकि धार्मिक समाज मूलमार्ग से अत्यंत विमुख वर्तता है। (प्रायः गृहीत मिथ्यात्व का पोषण हो ऐसी संप्रदायकी स्थिति है।) इस पत्र में धर्मात्मा का बाह्यांश परिणामन किस प्रकार का होता है यह दर्शनीय है। यथास्थान में ज्ञानीपुरुष को ऐसे प्रशस्त परिणाम सहज होते हैं, ऐसा समझने योग्य है।

